

जिनपतेः पदपद्मयुगं मुदा परमसौख्यकरं भवतारणम्।
यजनसंस्तवनैर्जपनादिकैरिह भजन्तु ततः सुजनाः श्रिये ॥१०॥
इति कथाकोशे प्रेमानुरागरक्ताख्यानं समाप्तम्।

१०३. मज्जनुरागाख्यानम्

सर्वदेवेन्द्रनागेन्द्र-समर्चितपदद्वयम्। नत्वा जिनं प्रवक्ष्येहं वृत्तमज्जनरागजम् ॥१॥
उज्जयिन्यां महीनाथः सुधीः सागरदत्तवाक्। जिनदत्तवसुमित्रौ सार्थवाहौ गुणोज्ज्वलौ ॥२॥
श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्मे महामज्जनरागिणौ। दानपूजाव्रताद्यैश्च मण्डितौ श्रावकोत्तमौ ॥३॥
उत्तरापथमुद्दिश्य वाणिज्यार्थं विनिर्गतौ। अवसीरमहाभूधमालादिवरभूधयोः ॥४॥
मध्येऽटव्यां गृहीते च सर्वसार्थं कुतस्करैः। ततोऽटवीं प्रविष्टौ तौ दिग्विमूढौ बभूवतुः ॥५॥
अपश्यन्तौ नरं कश्चिच्चारुमार्गोपदेशकम्। मज्जनरागरक्तौ द्वौ जैनधर्मे विचक्षणौ ॥६॥
संन्यासेन स्थितौ जैनं स्मरन्तौ चरणद्वयम्। अहो भव्या भवन्त्युच्चैः सौख्ये दुःखे च सद्भियः ॥७॥
तथान्यः सोमशर्माख्यो ब्राह्मणः कोऽपि तद्वने। दिग्विमूढो भ्रमन्कष्टं तयोः पार्श्वे समागतः ॥८॥

जिन भगवान् के चरण-कमल परम सुख के देने वाले हैं और संसारसमुद्र से पार करने वाले हैं, इसलिए भव्यजनों को उचित है कि वे सुख प्राप्ति के लिए उनकी पूजा करें, स्तुति करें, ध्यान करें, स्मरण करें ॥१०॥

१०३. जिनाभिषेक से प्रेम करने वाले की कथा

इन्द्रादिकों द्वारा जिनके पाँव पूजे जाते हैं, ऐसे जिन भगवान् को नमस्कार कर जिनाभिषेक से अनुराग करने वाले जिनदत्त और वसुमित्र की कथा लिखी जाती है। उज्जैन के राजा सागरदत्त के समय उनकी राजधानी में जिनदत्त और वसुमित्र नाम के दो प्रसिद्ध और बड़े गुणवान् सेठ हो गए हैं। जिनधर्म और जिनाभिषेक पर उनका बड़ा ही अनुराग था। ऐसा कोई दिन उनका खाली न जाता था जिस दिन वे भगवान् का अभिषेक न करते हों, पूजा प्रभावना न करते हों, दान-व्रत न करते हों। एक दिन ये दोनों सेठ व्यापार के लिए उज्जैन से उत्तर की ओर रवाना हुए। मंजिल दर मंजिल चलते हुए एक ऐसी घनी अटवी में पहुँच गए, जो दोनों बाजू आकाश से बातें करने वाले अवसीर और माला पर्वत नाम के पर्वतों से घिरी थी और जिसमें डाकू लोगों का अड्डा था। डाकू लोग इनका सब माल असबाब छीनकर हवा हो गए। अब ये दोनों उस अटवी में इधर-उधर घूमने लगे। इसलिए कि इन्हें उससे बाहर होने का रास्ता मिल जाये। पर इनका सब प्रयत्न निष्फल गया। न तो ये स्वयं रास्ते का पता लगा सके और न कोई रास्ता बताने वाला ही मिला। अपने अटवी के बाहर होने का कोई उपाय न देखकर अन्त में इन जिनपूजा और जिनाभिषेक से अनुराग करने वाले महानुभावों ने संन्यास ले लिया और जिन भगवान् का ये स्मरण-चिन्तन करने लगे। सच है, सत्पुरुष सुख और दुःख में सदा समान भाव रखते हैं, विचारशील रहते हैं ॥१-७॥

एक और अभागा भूला भटका सोमशर्मा नाम का ब्राह्मण अटवी में आ फँसा। घूमता-फिरता

देवोर्हन्दोषनिर्मुक्तः केवलज्ञानलोचनः। तत्प्रणीतो भवेद्धर्मो दशलाक्षणिकः सुधीः ॥९॥
गुरुर्मायादिदुर्गन्धवर्जितः शीलसंयुतः। ज्ञानध्यानतपोलक्ष्या मण्डितो भवतारकः ॥१०॥

वह इन्हीं के पास आ गया। अपनी-जैसी इस बेचारे ब्राह्मण की दशा देखकर ये बड़े दिलगीर हुए। सोमशर्मा से उन्होंने सब हाल कहा और यह भी कहा-यहाँ से निकलने का कोई मार्ग प्रयत्न करने पर भी जब हमें न मिला तो हमने अन्त में धर्म का शरण लिया इसलिए कि यहाँ हमारी मरने के सिवा कोई गति ही नहीं है और जब हमें मृत्यु के सामने होना ही है तब कायरता और बुरे भावों से क्यों उसका सामना करना, जिससे कि दुर्गति में जाना पड़े। दुःखों का नाश कर सुखों का देने वाला है, इसलिए उसी धर्म का ऐसे समय में आश्रय लेना परम हितकारी है। हम तुम्हें भी सलाह देते हैं कि तुम भी सुगति की प्राप्ति के लिए धर्म का आश्रय ग्रहण करो। इसके बाद उन्होंने सोमशर्मा को धर्म का सामान्य स्वरूप समझाया देखो, जो अठारह दोषों से रहित और सबके देखने वाले सर्वज्ञ हैं, वे देव कहाते हैं और ऐसे निर्दोष भगवान् द्वारा बताये दयामय मार्ग को धर्म कहते हैं। धर्म का वैसे सामान्य लक्षण है-जो दुःखों से छुड़ाकर सुख प्राप्त करावे। ऐसे धर्म को आचार्यों ने दस भागों में बाँटा है अर्थात् सुख प्राप्त करने के दस उपाय हैं। वे यह हैं-उत्तम क्षमा, मार्दव-हृदय का कोमल होना, आर्जव-हृदय का सरल होना, सच बोलना, शौच-निर्लोभी या संतोषी होना, संयम-इन्द्रियों को वश में करना, तप-व्रत उपवासादि करना, त्याग-पुण्य से प्राप्त हुए धन को सुकृत के काम जैसे दान, परोपकार आदि में लगाना, आकिंचन-परिग्रह अर्थात् धन-धान्य, चाँदी-सोना, दास-दासी आदि दस प्रकार के परिग्रह की लालसा कम करके आत्मा को शान्ति के मार्ग पर ले जाना और ब्रह्मचर्य का पालना ॥८॥

गुरु वे कहलाते हैं जो माया, मोह-ममता से रहित हों, विषयों की वासना जिन्हें छू तक न गई हो, जो पक्के ब्रह्मचारी हों, तपस्वी हों और संसार के दुःखी जीवों को हित का रास्ता बतला कर उन्हें सुख प्राप्त कराने वाले हों। इन तीनों पर अर्थात् देव, धर्म, गुरु पर विश्वास करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन सुख-स्थान पर पहुँचने की सबसे पहली सीढ़ी है। इसलिए तुम इसे ग्रहण करो। इस विश्वास को जैन शासन या जैनधर्म भी कहते हैं। जैनधर्म में जीव को, जिसे कि आत्मा भी कहते हैं, अनादि माना है। न केवल माना ही है किन्तु वह अनादि ही है। नास्तिकों की तरह वह पंचभूत-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से बना हुआ नहीं है क्योंकि ये सब पदार्थ जड़ हैं। ये देख-जान नहीं सकते और जीव का देखना-जानना ही खास गुण है। इसी गुण से उसका अस्तित्व सिद्ध होता है। जीव को जैनधर्म दो भागों में बाँट देता है। **एक भव्य**—अर्थात् ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का, जिन्होंने कि आत्मा के वास्तविक स्वरूप को अनादि से ढाँक रखा है नाश कर मोक्ष जाने वाले और **दूसरा अभव्य**—जिसमें कर्मों के नाश करने की शक्ति न हो। इनमें कर्मयुक्त जीव को संसारी कहते हैं और कर्म रहित को मुक्त। जीव के सिवा संसार में एक और द्रव्य है उसे अजीव या पुद्गल कहते हैं। इसमें जानने देखने की शक्ति नहीं होती, जैसा कि ऊपर कहा जा

जीवोप्यनादिसंसिद्धो भव्याभव्यप्रभेदभाक् । कर्माश्रितस्तु संसारी तन्मुक्तो मुक्तिनायकः ॥११॥
 इत्यादिधर्मसद्भावं श्रुत्वा पाश्वे तयोर्द्विजः । त्यक्त्वा मिथ्यात्वदुर्मार्गं श्रित्वा श्रीजैनशासनम् ॥१२॥
 संन्यासेन सुधीः सोपि स्थित्वा चित्ते जिनं स्मरन् । इन्द्रनागेन्द्रचन्द्राद्यैर्भक्त्या नित्यं समर्चितम् ॥१३॥
 जित्वोपसर्गकं भूरि कीटकाद्यैर्विनिर्मितम् । भूत्वा महर्द्धिको देवः कल्पे सौधर्मसंज्ञके ॥१४॥
 अत्र श्रीश्रेणिकस्योच्चैर्भूपतेस्तनुजोभवत् । अभयाख्यो महाधीरो मुक्तिगामी जगद्धितः ॥१५॥
 जिनदत्तवसुमित्रौ मृत्वा तौ द्वौ समाधिना । देवौ तत्रैव सौधर्मे संजातौ सुमहर्द्धिकौ ॥१६॥
 यद्धर्मं त्रिजगद्धितं शुभकरं श्रित्वा सुकष्टेप्यलं भव्या भूरि सुखं प्रकष्टविमुखं संप्राप्नुवन्ति स्वयम् ।
 स श्रीमान्सुरेन्द्रचक्रिखचराधीशैः सदाभ्यर्चितं दद्यान्मे भवतां च निर्मलसुखं सत्केवली श्रीजिनः ॥१७॥

इति कथाकोशे मज्जनरागरक्ताख्यानं समाप्तम् ।

चुका है। अजीव को जैनधर्म पाँच भागों में बाँटता है, जैसे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन पाँचों की दो श्रेणियाँ की गई हैं। एक मूर्तिक और दूसरी अमूर्तिक। मूर्तिक उसे कहते हैं जो छुई जा सके, जिसमें कुछ न कुछ स्वाद हो, गन्ध और वर्ण रूप-रंग हो अर्थात् जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये बातें पाई जाये वह मूर्तिक है और जिसमें ये न हों वह अमूर्तिक है। उक्त पाँच द्रव्यों में सिर्फ पुद्गल तो मूर्तिक है अर्थात् इसमें उक्त चारों बातें सदा से हैं और रहेंगी-कभी उससे जुदा न होंगी। इसके सिवा धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये अमूर्तिक हैं। इन सब विषयों का विशेष खुलासा अन्य जैन ग्रन्थों में किया है। प्रकरणवश तुम्हें यह सामान्य स्वरूप कहा। विश्वास है अपने हित के लिए इसे ग्रहण करने का यत्न करोगे ॥९-११॥

सोमशर्मा को यह उपदेश बहुत पसन्द पड़ा। उसने मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व को स्वीकार कर लिया। इसके बाद जिनदत्त-वसुमित्र की तरह वह भी संन्यास ले भगवान् का ध्यान करने लगा। सोमशर्मा को भूख-प्यास, डाँस-मच्छर आदि की बहुत बाधा सहनी पड़ी। उसे उसने बड़ी धीरता के साथ सहा। अन्त में समाधि से मृत्यु प्राप्त कर वह सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से श्रेणिक महाराज का अभयकुमार नाम का पुत्र हुआ। अभयकुमार बड़ा ही धीर-वीर और पराक्रमी था, परोपकारी था। अन्त में वह कर्मों का नाश कर मोक्ष गया ॥१२-१५॥

सोमशर्मा की मृत्यु के कुछ ही दिनों बाद जिनदत्त और वसुमित्र की भी समाधि से मृत्यु हुई वे दोनों भी इसी सौधर्म स्वर्ग में, जहाँ कि सोमशर्मा देव हुआ था, देव हुए ॥१६॥

संसार का उपकार करने वाले और पुण्य के कारण जिनके उपदेश किए धर्म को कष्ट समय में भी धारण कर भव्यजन उस कठिन से कठिन सुख को, जिसके कि प्राप्त करने की उन्हें स्वप्न में भी आशा नहीं होती, प्राप्त कर लेते हैं, वे सर्वज्ञ भगवान् मुझे वह निर्मल सुख दें, जिस सुख की इन्द्र, चक्री और विद्याधर राजा पूजा करते हैं ॥१७॥

१०४. धर्मानुरागाख्यानम्

विशुद्धकेवलज्ञानलोकालोकप्रकाशकम्। नमस्कृत्य जिनं वच्मि कथां धर्मानुरागजाम् ॥१॥
 अवन्तिविषये ख्याते प्रोज्जयिन्यां महापुरि। राजाभूद्धनवर्माख्यो धनश्रीकामिनीपतिः ॥२॥
 तयोः पुत्रः समुत्पन्नो लकुचो भूरिगर्ववान्। शत्रुसन्दोहमानाग्नि-शमनैकघनाघनः ॥३॥
 एकदा कालमेघाख्यम्लेच्छराजेन पीडिते। तद्देशेऽसौ कुमारश्च लकुचो बहुकोपतः ॥४॥
 गत्वा स्वयं रणे धृत्वा तं रिपुं कालमेघकम्। समानीय द्रुतं दत्त्वा स्वपित्रे धनवर्मणे ॥५॥
 कामचारं वरं प्राप्य ततः स्वपुरयोषिताम्। शीलभंगं चकारोच्चैः कामिनां सुमतिः कुतः ॥६॥
 श्रेष्ठिनः पुङ्गलस्यापि नागधर्मास्ति कामिनी। भूरिरूपश्रिया युक्ता तस्यामासक्तकोभवत् ॥७॥
 पुङ्गलोपि तदा श्रेष्ठी प्रज्वलन्कोपवह्निना। तं हन्तुमसमर्थः सन्तिष्ठते स्वगृहे ततः ॥८॥

१०४. धर्मानुराग-कथा

जो निर्मल केवलज्ञान द्वारा लोक और अलोक के जानने देखने वाले हैं, सर्वज्ञ हैं, उन जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार कर धर्म से अनुराग करने वाले राजकुमार लकुच की कथा लिखी जाती है ॥१॥

उज्जैन के राजा धनवर्मा और उनकी रानी धनश्री लकुच नाम का एक पुत्र था। लकुच बड़ा अभिमानी था, पर साथ में वीर भी था। उसे लोग मेघ की उपमा देते थे, इसलिए कि वह शत्रुओं की मानरूपी अग्नि को बुझा देता था, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना उसके बायें हाथ का खेल था ॥२-३॥

काल-मेघ नाम के म्लेच्छ राजा ने एक बार उज्जैन पर चढ़ाई की थी। अवन्ति देश की प्रजा को तब जन-धन की बहुत हानि उठानी पड़ी थी। लकुच ने इसका बदला चुकाने के लिए कालमेघ के देश पर भी चढ़ाई कर दी। दोनों ओर से घमासान युद्ध होने पर विजयलक्ष्मी लकुच की गोद में आकर लेटी। लकुच ने तब कालमेघ को बाँध कर पिता के सामने रख दिया। धनवर्मा अपने पुत्र की इस वीरता को देखकर बड़े खुश हुए। इस खुशी में धनवर्मा ने लकुच को कुछ वर देने की इच्छा जाहिर की। पर उसकी प्रार्थना से वर को उपयोग में लाने का भार उन्होंने उसी की इच्छा पर छोड़ दिया। अपनी इच्छा के माफिक करने की पिता की आज्ञा पा लकुच की आँखें फिर गई उसने अपनी इच्छा का दुरुपयोग करना शुरू किया। व्यभिचार की ओर उसकी दृष्टि गई तब अच्छे-अच्छे घराने की सुशील स्त्रियाँ उसकी शिकार बनने लगीं। उनका धर्म भ्रष्ट किया जाने लगा। अनेक सतियों ने इस पापी से अपने धर्म की रक्षा के लिए आत्महत्याएँ तक कर डालीं। प्रजा के लोग तंग आ गए। वे महाराज से राजकुमार की शिकायत तक नहीं कर पाते। कारण राजकुमार के जासूस उज्जैन के कोने-कोने में फैल रहे थे इसलिए जिसने कुछ राजकुमार के विरुद्ध जबान हिलाई या विचार भी किया कि वह बेचारा फौरन ही मौत के मुँह में फेंक दिया जाता था ॥४-७॥

यहाँ एक पुंगल नाम का सेठ रहता था। इसकी स्त्री का नाम नागदत्ता था। नागदत्ता बड़ी खूबसूरत थी। एक दिन पापी लकुच की इस पर आँखें चली गई बस, फिर क्या देर थी? उसने उसी